© 2018 IJSRSET | Volume 4 | Issue 7 | Print ISSN: 2395-1990 | Online ISSN : 2394-4099
Themed Section : Education

संस्कृत काव्यशास्त्र में औचित्य सिद्धान्त : एक विश्लेषण

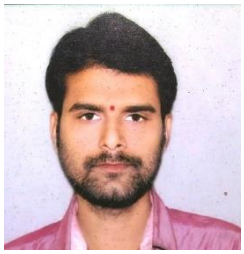

सत्येन्द्र नाथ शुक्ल
शोधछात्र,
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी,
उत्तर प्रदेश, भारत

भारतीय काव्य शास्त्र के इतिहास में समय–समय पर काव्य के तत्त्वों पर विचार किया गया तथा आचार्यों के द्वारा इसी क्रम में विभिन्न सिद्धान्तों का प्रणयन भी किया गया। कालक्रम से मुख्यतः छः सिद्धान्त निम्नांकित है– रस सिद्धान्त, अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, औचित्य सम्प्रदाय।

उक्त सम्प्रदायों में यद्यपि औचित्य सम्प्रदाय, विकास के क्रम में एक सम्प्रदाय के रूप में सबसे अन्त में दिखलाई पड़ता है; जिसे आचार्य क्षेमेन्द्र ने प्रतिष्ठित किया। परन्तु औचित्य सिद्धान्त का जन्म या विकास उपयुक्तता, समीचीनता, सन्तुलनादि गुणों के प्रति मनुष्य की स्वाभाविक सजगता की प्रवृति से हुआ है। इस प्रकार औचित्य प्रत्येक कला, विद्या, व्यापार, व्यवहार की गरिमा में वृद्धि करने वाला सनातन एवं नैसर्गिक तथा अपरिहार्य तत्त्व है। आचार्य क्षेमेन्द्र के पूर्ववर्ती आचार्यो ने औचित्य को जिस रूप में स्वीकार किया अथवा प्रस्तुत किया उसका विवरण अग्रलिखित है।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में औचित्य में निहित उपयुक्तता, अनुरूपता, सन्तुलन आदि सामान्य गुणों की ओर संकेत किया। परन्तु आचार्य ने उक्त विशेषताओं को कहीं भी औचित्य शब्द से अभिहित नहीं किया। आचार्य भरत ने माना कि नाट्य की रचना एवं प्रस्तुति में लोक स्वभाव एवं लोक व्यवहार को ही प्रमाण मानना चाहिए–

लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम् ।
तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते ।। [i]
नाना शीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।
तस्माल्लोकप्रमाणं हि कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः ।।[ii]

आचार्य ने समीचीनता के आशय की अभिव्यक्ति अनुरूपता शब्द से की है। उनके अनुसार –

वयोनुरूपः प्रथमस्तु वेषोः
वेषानुरूपश्च गति प्रचारः ।
गति प्रचारानुगतं च पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ।।[iii]

अर्थात् नाट्य प्रस्तुति के समय आयु के अनुरूप वेश–भूषा, वेश के अनुरूप गति तथा क्रिया, गति के अनुरूप पाठ्य तथा पाठ्य के अनुरूप अभिनय होना चाहिए।

उक्त विवरण के साथ ही औचित्य तत्त्व की उद्भावना करने वाला भरत का विचार निम्न है–

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति ।

मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते ।।[iv]

अर्थात् देश के प्रतिकूल वेश कभी शोभादायक नहीं हो सकता जैसे गले में मेखला तथा हाथ में नूपूर धारण करना हास्यास्पद होता है। इस प्रकार आचार्य ने औचित्य शब्द का प्रयोग तो नहीं किया परन्तु उसके विभिन्न तत्त्वों पर गहन विचार प्रस्तुत किया।

काव्यालंकार (भामहालंकार) ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य भामह ने भी कहीं भी औचित्य शब्द का प्रयोग तो नहीं किया, परन्तु औचित्य को 'न्याय्य' अर्थात् न्यायसंगत पद से अभिहित किया। उन्होंने औचित्य के आशय को साधु तथा अनौचित्य को असाधु शब्द से व्यक्त किया और असाधु प्रयोगों से बचने तथा साधु प्रयोगों की प्रवृत्ति रखने के लिए 'विवेक' को रचनाकार का गुण माना। अलंकारवादी होने के कारण भामह के समक्ष एक स्वाभाविक समस्या यह थी कि दोष का दोषत्व सर्वथा विद्यमान रहता है या कभी वे गुण की कोटि में आते हैं। आचार्य ने इस सन्दर्भ में 'विशिष्ट–सन्निवेश' के कारण दोषत्व मुक्त होने की बात का सूत्रपात किया तथा कहा कि असाधु वस्तु भी आश्रय के सौन्दर्य से सुन्दर हो जाती है।

जैसे माला के मध्य गुम्फित नील पलाश भी शोभायमान हो जाता है।

सन्निवेशविशेषात्तु दुरूक्तमपि शोभते ।

नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव ।।[v]

स्वभाव से ही असुन्दर काजल जब कामिनी के नयनों में विन्यस्त होता है तो शोभावर्द्धक होता है।

किंचिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसाध्वपि ।

कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवांजनम् ।।[vi]

आचार्य ने माना कि पुनरूक्ति वस्तुतः दोष है, परन्तु भय, शोक, असूया, हर्ष तथा विस्मय से चित्त के आक्षिप्त होने पर ये दोष गुण बन जाते हैं–

भयशोकाभ्यासूयासु हर्षविस्मययोरपि ।

यथाह गच्छ–गच्छेति पुनरूक्तं न तद्विदुः ।।[vii]

इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि औचित्य होने के कारण ही जब दोषों का सन्निवेश होता है तो वे गुण बन जाते हैं। अतः भामह ने यहाँ प्रकारान्तर से औचित्य को ही महत्त्व दिया है।

आचार्य दण्डी ने भी 'औचित्य' शब्द का तो प्रयोग नहीं किया, परन्तु दोष निरूपण के सन्दर्भ में 'व्यर्थ नामक' दोष को बताते हुए औचित्य की ओर संकेत किया है। दण्डी के अनुसार प्रत्येक दोष किसी विशिष्ट स्थिति में ही दोष कहलाता है। जैसे 'अपार्थदोष' पागल के बकवास, बालक के आलाप तथा अस्वस्थ चित्त वाले व्यक्ति के प्रलाप को व्यक्त करने के सन्दर्भ में गुण हो जाते हैं। जहाँ वाक्यों में तारतम्यता न हो वहाँ अपार्थदोष है।

समुदायार्थशून्यं यत् तदपार्थमितीष्यते ।

उन्मत्त–मत्त–बालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति ।।[viii]

किसी वस्तु के अत्यधिक आसक्ति के प्रसंग में 'व्यर्थ' नामक दोष होता है, परन्तु देश, काल, लोक, न्याय तथा आगम से विरोध हो तो दोष होता है, लेकिन कवि कौशल इसे गुण बना देता है–

विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कवि कौशलात् ।

उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ।।[ix]

इस प्रकार आचार्य दण्डी अनुचित स्थान पर सन्निवेश के कारण ही दोष की दोषता मानते हैं तथा उचित स्थान पर निवेश करने के कारण दोषों का परिहार हो जाता है। दण्डी उक्त रूप में ही औचित्य को स्वीकार किया है।

काव्यालंकार सूत्रवृत्तिकार आचार्य वामन ने अपने ग्रन्थ में औचित्य का नाम तो नहीं लिया परन्तु दोष एवं कवि शिक्षा प्रकरण में औचित्य के महत्त्व को वर्णित किया है।

आचार्य उद्भट ने अपने ग्रन्थ काव्यालंकारसारसंग्रह में 'उर्जस्वि' अलंकार के निरूपण में अनौचित्य शब्द का प्रयोग किया है

अनौचित्य प्रवृत्तानां काम क्रोधादि कारणात ।

भावानां च रसानां च वधं उर्जस्वि कथ्यते ।।[x]

अर्थात् रस एवं भाव का अनुचित प्रयोग जहाँ होता है वहाँ उर्जस्वि अलंकार होता है।

कन्नौज के मौखरी यशोवर्मा ने एक नाटक रामाभ्युदय में जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। परन्तु इस नाटक के एक पद को भोजराज ने अपने श्रृंगार प्रकाश में उद्धृत किया है; जिसमें नाटक के आवश्यक गुणों का उल्लेख है– **औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं, सर्वत्र पात्रोचिता, पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च, कथामार्गेन चातिक्रमः। शुद्धिः प्रस्तुतसंविधानकविधौ, प्रौढिश्च शब्दार्थयोर्विद्वद्भिः परिभाव्यतामविहितैरेतावदेवास्तु नः ।।**[xi]

नाट्यशास्त्र के टीकाकार तथा उत्पत्तिवाद के संस्थापक आचार्य भट्टलोल्लट के तीन पद्यों का उल्लेख राजशेखर, हेमचन्द्र तथा नमिसाधु ने किया है, जिसके द्वारा उनके अनुसार औचित्य पर प्रकाश पड़ता है। आचार्य ने प्रकृति के वर्णन, गज, तुरग वर्णन में प्रकृत रसानुकूलता तथा अनतिविस्तृतता की ओर ध्यान आकृष्ट किया तथा रसयुक्त शब्दों के चयन को महत्त्व दिया–

'अस्तु नाम निःसीमार्थसार्थः । किन्तु रसवत एव निबन्धो युक्तो; न तु नीरसस्य' इति आपराजितिः । यदाह– 'मज्जन–पुष्पावचयन–सन्ध्या चन्द्रोदयादिवाक्यमिह, सरसमपि नातिबहुलं प्रकृतरसानन्वितं रचयेत् ।।[xii]

काव्यालंकार ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य रुद्रट अलंकार युग के अन्तिम आचार्य हैं। आपने अपने ग्रन्थ में सर्वप्रथम व्याख्या पूर्वक 'औचित्य' शब्द का प्रयोग किया। तथा अनुप्रास अलंकार के प्रयोग में औचित्य को ही निकष के रूप में स्वीकार किया। औचित्यहीन यमक अलंकार को रुद्रट ने बालगण्ड की भाँति माना है–

इति यमक विशेषं सम्यगालोचयद्भिः सुकविभिरभियुक्तैर्वस्तु चौचित्यवद्भिः ।

सुविहितपदभंग सुप्रसिद्धाभिधानं, तदनु विचरणीयं सर्गबन्धेषु भूत्वा ।।[xiii]

रुद्रट ने 'ग्राम्य' दोष की विशिष्ट अवस्था में गुण में समाविष्ट हो जाता है इस प्रकार माना है– देश, कुल, जाति, विद्या, धन, आयु, स्थान व्यवहार, पात्रों के आकार, वेष एवं वचनों में अनौचित्य ही ग्राम्य दोष है, परन्तु विशिष्ट अवस्था में यह गुण हो जाता है–

अर्थविशेषवशाद्वा सभ्येऽपि तथा क्वचिद् विभक्तेर्वा । अनुचितभावं मुंचति तथा विधं तत्पदं सदपि ।।[xiv]

रूद्रट ने माना कि औचित्य ही गुण एवं दोष का निर्धारक तत्त्व है तथा वृत्तियों के सन्तुलित तथा समुचित निबन्धन से ही काव्य में सौन्दर्याधान सम्भव है।

औचित्य की चिन्तन दृष्टि में आनन्दवर्द्धन का योगदान महत्त्वपूर्ण है। आपने माना कि काव्य के मूल तत्त्व रस का एक मात्र विश्वसनीय तत्त्व औचित्य है। उनका मानना है कि रस–भंग का अन्य कोई कारण नहीं है। औचित्य का सम्यक् निर्वाह ही रस का परम आधारभूत तत्त्व है–

अनौचित्यादृते नान्यत् रसभंगस्य कारणम् ।

औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।।[xv]

इस प्रकार आचार्य ने औचित्य को रस का मूल आधार माना जो परवर्ती आचार्यों का प्रेरणास्रोत तथा औचित्य सिद्धान्त की सुदृढ़ पूर्वपीठिका बनी। आचार्य ने औचित्य को रस को आवश्यक वस्तु तथा वस्तु अलंकारादि को बाह्य परिधान मात्र माना। आपने अपने ग्रन्थ में (1) अलंकारौचित्य (2) गुणौचित्य (3) संघटनौचित्य (4) प्रबन्धौचित्य (5) रसौचित्य का विशद् वर्णन प्रस्तुत किया। उन्होंने लिखा कि रस, भाव आदि के विषय से सम्बद्ध रह कर ही वाच्य या कथावस्तु के वाचक उपादानों का औचित्य की दृष्टि से संयोजन करना महाकवि का प्रमुख कार्य है–

वाच्यानां वाचकानां च पदौचित्येन योजनम् ।

रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः ।।[xvi]

आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ में औचित्य के स्वरूप की चर्चा की तथा कहा कि वस्तु के स्वभाव का स्पष्ट यथानुरूप वर्णन ही औचित्य नामक गुण है।

आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते ।

प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यान–जीवितम् ।।[xvii]

आचार्य ने वर्णविन्यासवक्रता में वृत्यौचित्य, रीत्यौचित्य, अलंकारौचित्य का वर्णन किया तथा औचित्य को सबका आधार माना है।

अभिनव गुप्त ने माना कि औचित्य के आधार रस, भाव आदि ही हैं। रस एवं भाव आदि को छोड़ औचित्य विधान और कुछ भी नहीं है– **औचित्यवतीजीवितमितिचेत्, औचित्यनिबन्धनं रसाभावादिमुक्त्वा नान्यत् किंचिदस्तीति तदेवान्तर्भासि मुख्यं जीवितमित्यभ्युपगन्तव्यं न तु सा।**[xviii] आचार्य ने कहा कि अलंकार्य रस को उचित रूप से सुशोभित करने वाले अलंकारों का ही काव्य में औचित्य है। शव को कुण्डलादि सुशोभित नहीं कर सकते तथा सन्यासी के शरीर में स्वर्णाभूषण हास्यास्पद हो जाते हैं। इस प्रकार अभिनव गुप्त ने रस एवं ध्वनि के साथ औचित्य को सम्बन्धित किया।

भोजराज ने अपने ग्रन्थों में मुख्य रूप से औचित्य की चर्चा नहीं की तथापि गौड रूप से यह तत्व विद्यमान है। दोष, गुण तथा अलंकार के निरूपण में अनेक भेदों की चर्चा की जिसका आधार औचित्य है।

गुण दोषों के वर्णन क्रम में भोज ने 'औचित्य विरोध' नामक एक दोष स्वीकार किया है–

युक्तौचित्य प्रतिज्ञादिकृतो यास्त्विह कश्चन ।

अनुमान विरोधः स कविमुख्यैर्निगद्यते ।।[xix]

इस प्रकार भोजराज ने रस प्रतीति के लिए भाषा, छन्द, घटना आदि के औचित्य को अनिवार्य माना तथा औचित्य की महत्ता को स्वीकार किया।

व्यक्ति विवेककार आचार्य महिमभट्ट जो ध्वनि सिद्धान्त के खण्डनकर्त्ता आचार्य थे। उन्होंने मुख्यतः अपने ग्रन्थ में ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन किया है तथा रसादि व्यंगप को अनुमेय सिद्ध किया है। उन्होंने औचित्य को स्वतः सिद्ध माना तथा काव्य स्वरूप के निरूपण में उसकी चर्चा को व्यर्थ माना – **तस्य काव्यस्वरूपनिरूपण सामर्थ्यसिद्धस्य पृथगुपादानवैयर्थ्यात् ।**[xx]

उन्होंने कहा कि काव्य की आत्मा है रस और उसे अनौचित्य स्पर्श की संभावना नहीं हो सकती तो इस सन्दर्भ में गठित की गयी विभिन्न परिभाषायें व्यर्थ हैं। उन्होंने दो प्रकार के अनौचित्य को भी माना (1) अर्थ विषयक (2) शब्द विषयक। महिमभट्ट ने अनौचित्य को प्रधान दोष माना चूँकि समस्त दोष रस के व्याघातक होते हैं अतः महिमभट्ट ने रसानौचित्य के अन्तर्गत सबका समावेश किया। इस प्रकार आचार्य ने रस को औचित्य विधान का ही परिणाम स्वीकार किया।

दशरूपककार धनंजय में औचित्य की अपरिहार्यता का संकेत अपने ग्रन्थ में किया। उनके अनुसार नाटक में रस के विरुद्ध तत्वों का परित्याग कर देना चाहिए या नवीन परिकल्पना लेनी चाहिए–

यत्तत्रानुचितं किंचिन्नायकस्य रसस्य वा ।

विरूद्धं तत्परित्यज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।।[xxi]

इस प्रकार से आचार्य धनंजय ने प्रकारान्तर से औचित्य की कल्पना पर बल दिया।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि जिस औचित्य को शब्दशः अभिहित न करते हुए भरत ने गुण एवं दोष के निरूपण में अनुख्यता शब्द से, भामह ने साधु–असाधु प्रयोग के मध्य, दण्डी ने दोष के निरूपण में, वामन ने दोष एवं कविशिषा प्रकरण में, यशोवर्मा ने नाट्य के गुण के रूप में, भहलोल्लट ने वर्णनगत एवं रसगत शब्दों में तथा शैली में, प्रयोग किया। उसी भाव को रूद्रट ने औचित्य शब्द से अभिहित किया।

रूद्रट ने अनुप्रास एवं यमक अलंकार के वर्णन में मुख्य माना, आनन्दवर्द्धन ने जिसे रस का परम आधारभूत तत्व माना, कुन्तक ने वर्णवक्रता क्रम में सबका आधार तथा गुण मात्रा माना। अभिनव गुप्त ने जिसे रस एवं ध्वनि के साथ सम्बन्धित किया, भोजराज ने जिसके अभाव को एक दोष के रूप में माना तथा रस छन्द में जिसकी अनिवार्यता माना, महिमभट्ट ने स्वयंसिद्ध तथा रस परिणाम का उत्पादक माना, धनंजय ने औचित्य की कल्पना पर बल दिया। इस प्रकार भिन्न–भिन्न रूपों में आचार्यों ने विभिन्न स्वरूपों में औचित्य की चर्चा की इसी के आधार पर हम कह सकते हैं कि औचित्य सम्प्रदाय की पीठिका 11 शताब्दी तक पूरी तरह तैयार हो चुकी थी।

ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में आचार्य क्षेमेन्द्र (1010–50 ई0) ने अपने ग्रन्थ 'औचित्य विचार चर्चा' में औचित्य को एक व्यवस्थित सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया। क्षेमेद्र ने औचित्य को काव्यगत चारुत्व एवं रस का मूल माना। उनका मानना है कि इसके अभाव में अलंकार एवं गुण दोनों की सत्ता नहीं रहती। औचित्य को सभी काव्यांगों को

नियन्त्रित करने वाला केन्द्रिय तत्त्व माना है। उचित स्थान में प्रयुक्त होने पर ही अलंकार काव्य के शोभावर्द्धक होते हैं। इसी तरह औचित्यपूर्ण होने पर गुण भी उत्कर्षाधान में समर्थ होते हैं।

उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः

औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः।।[xxii]

तथा इसी को रससिद्ध काव्य का मूल माना **औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।**[xxiii] काव्य का प्राण तत्त्व होने के कारण यह काव्य के सभी अंगों में रहता है। **काव्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ।**[xxiv] आचार्य क्षेमेन्द्र ने शब्दार्थ शरीर के जीवनाधायक औचित्य के 27 अंगों का वर्णन किया है।

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे।

क्रियायां कारके लिंगे वचने च विशेषणे।।

उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते।

तत्त्वे सत्त्वेऽभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे।।

प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्न्यथाशिषि।

काव्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्।।[xxv]

काव्य के मर्मसदृश उपर्युक्त पद आदि स्थानों में उसके समस्त शरीर को व्याप्त करने वाला औचित्य स्फुट रूप में प्रकाशमान रहता है।

उक्त विशेषताओं के कारण ही यह सिद्धान्त काव्यशास्त्र का समादृत एवं प्रमुख सिद्धान्त है।

---

i- नाट्यशास्त्र 26/113
ii- नाट्यशास्त्र 24/214
iii- नाट्यशास्त्र 14/68
iv- नाट्यशास्त्र 23/69
v- काव्यालंकार भामह पृ. 26
vi- काव्यालंकार भामह 1/55
vii- काव्यालंकार भामह 4/14
viii- काव्यादर्श 3/128
ix- काव्यादर्श 3/179
x- काव्यालंकारसारसंग्रह
xi- ध्वन्यालोक 3/14 वृत्ति
xii- काव्यमीमांसा 9 पृ. 110–11
xiii- काव्यालंकार रुद्रट 2/32
xiv- काव्यालंकार रुद्रट 6/23
xv- ध्वन्यालोक पृ.180
xvi- ध्वन्यालोक पृ.80
xvii- वक्रोक्तिजीवित 1/53
xviii- ध्वन्यालोक लोचन पृ. 260
xix- सरस्वतीकण्ठाभरणम् 1/40
xx- व्यक्तिविवेक पृ.124
xxi- दशरूपक 3/24
xxii- औचित्यविचारचर्चा 6
xxiii- औचित्यविचारचर्चा 5
xxiv- औचित्यविचारचर्चा 10
xxv- औचित्यविचारचर्चा 8–10

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

1. नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी द्वितीय संस्करण 1980
2. काव्यालङ्कार भामह,शर्मा देवेन्द्रनाथ, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, प्र0 सं0–1973

3. काव्यादर्श दण्डी, गुप्त धर्मेन्द्र कुमार, मेहरचन्द लछमनदास, दरियागंज, दिल्ली प्र0सं01973
4. काव्यालंकारसारसंग्रह उद्‌भट, त्रिपाठी राममूर्ति, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग प्र0 सं0 1996
5. ध्वन्यालोक–आनन्दवर्धन राय डॉ0 गंगासागर चौखम्बा संस्कृत भवन प्रथम संस्करण – 2004
6. काव्यमीमांसा राजशेखर, शर्मा सारस्वत केदारनाथ, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, प्र0 सं0–1954
7. काव्यालंकार रुद्रट, शुक्ल रामदेव, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित0सं0–1989
8. वक्रोक्तिजीवित कुन्तक, मिश्र राधेश्याम, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वि0सं0–1980
9. सरस्वतीकण्ठाभरणम् भोज, मिश्र कामेश्वर नाथ चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, प्र0सं0–1976
10. व्यक्तिविवेक महिमभट्‌ट, द्विवेदी रेवा प्रसाद, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्र0सं0–1984
11. दशरूपक धनंजय , मालवीय सुधाकर, चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी, प्र0सं0–1979
12. औचित्य विचार चर्चा, मिश्र श्री नारायण, चौखम्भा पब्लिर्श संस्करण 2006